

# पारिवारिक व्रत एवं आचरण

ओ३म् अनुव्रत : पितुः पुत्रो माता भवतु संमना : ।

जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम् ॥ -अथर्ववेद ३/३०/२

अन्वय- पुत्रः पितुः अनुव्रत : भवतु । पुत्रः माता सह संमना : भवतु । जाया पत्ये मधुमतीं शान्तिवां वाचं वदतु ॥

अर्थ- (पुत्रः) पुत्र (पितुः) पिता का (अनुव्रतः) अनुव्रत हो अर्थात् उसके व्रतों को पूर्ण करे । पुत्र (मात्रा) माता के साथ (संमनाः) उत्तम मनवाला (भवतु) हो अर्थात् माता के मन को संतुष्ट करने वाला हो । (जाया) पत्नी को चाहिए कि वह (पत्ये) पति के साथ (माधुमतीम्) मीठी और (शान्तिवाम्) शान्तिप्रद (वाचम्) वाणी (वदतु) बोले ।

व्याख्या- इस वेदमंत्र में वे आरम्भिक साधन बताये हैं जिनसे गृहस्थ सुव्यवस्थित रह सकता है ।

ऊपरी दृष्टि से ऐसा लगता है कि जिन बातों का इस मन्त्र में प्रतिपादन है वे अतिसाधारण और चालू हैं । उनको असभ्य और अशिक्षित लोग भी समझते हैं । उनके लिए वेदमंत्र की आवश्यकता नहीं । परन्तु गम्भीर दृष्टि से पता चलेगा कि बहुत सी बातें विचारणीय और ज्ञातव्य हैं । उदाहरण के लिए दो शब्दों पर विचार कीजिए- एक 'पुत्र' और दूसरा 'अनुव्रतः' । यहां केवल इतनी ही बात नहीं है कि सन्तानों को मां-बाप की सेवा करनी चाहिए और उनकी आज्ञा का पालन करना चाहिए । यद्यपि जिस किसी ने संसार में सबसे पहले लोगों को यह उपदेश किया होगा, उस समय इतनी छोटी-सी बात भी बहुत बड़ी और अद्भुत मालूम होती होगी । आज भी यद्यपि कथन मात्र से इस बात को सभी जानते हैं, फिर भी व्यवहार में तो अत्यन्त न्यूनता दिखाई देती है । आज्ञाकारी राम तो कथाओं का ही विषय हैं । व्यवहार में तो जिन घरों में हिरण्यकश्यप नहीं हैं वहां भी किसी न किसी बहाने से सन्तान प्रह्लाद का स्वांग खेलने के लिए उत्सुक रहती है । कुछ ऐसे भी मनचले हैं जो ऐसी शिक्षाओं को असामयिक और प्राचीनकाल की दास-प्रथा का प्रतीक समझते हैं । बेटा बाप की आज्ञा क्यों मानें ? इस प्रकार प्राचीन आचार शास्त्र के बहुत से छोटे-मोटे नियम हैं जो आजकल भावी विकास में बाधक समझे जाते हैं । यूँ तो हर मानवी संस्था में समय-समय पर दोष आ जाया करते हैं और उनके सुधार की आवश्यकता होती है । यदि संसार के पिता हिरण्यकश्यप बन जाएँ तो ऐसी संस्थाएँ भी प्रशंसा की दृष्टि से देखी जायेंगी जो बालकों में प्रह्लाद की भावनाओं का प्रसार करें, क्योंकि परिवार का संगठन तो तभी सुरक्षित रह सकता है जब पिता और पुत्र दोनों धार्मिक हों । कोढ़ी माँ-बाप की सन्तान को उनसे अलग रखा जाता है कि वह कोढ़ दूसरी पीढ़ी में भी न आ जाए । चोर और डाकुओं की सन्तान के भी पृथक्करण की आवश्यकता होती है । परन्तु ये तो अपवाद मात्र हैं । यह साधारण जीवन का आचार शास्त्र नहीं, अपितु आचार सम्बन्धी अस्पतालों की नियमावली है, जो सामान्य जीवन से कुछ भिन्नता रखती है ।

अच्छा ! आइये पहले 'अनुव्रत' शब्द पर विचार करें । इसके लिए देखना यह है कि सृष्टिक्रम में सन्तानोत्पत्ति की व्यवस्था क्यों रखी गई ? यदि कोई परिवार सन्तानहीन ही लुप्त हो जाए तो क्या हानि है ? और यदि एक क्षण में समस्त संसार नष्ट हो जाए तो किसका क्या बिगड़े ? परन्तु ये प्रश्न वही कर सकते हैं जो जीव की स्वतन्त्र सत्ता और उसकी आवश्यकताओं पर विचार नहीं करते । परमात्मा ने यह सृष्टि खेल के लिए नहीं बनाई । यह जीव के विकास के लिए बनाई गई है । दुर्गुणों से बचने और सद्गुणों

को ग्रहण करने के लिए बनाई गई है। पशु-पक्षियों की बुद्धि इतनी कम है कि उनके आचार की व्यवस्था ईश्वर ने सीधी अपने हाथ में रखी है। जैसे बहुत छोटे बालकों पर बुद्धिमान् पिता उनकी व्यवस्था का भार नहीं छोड़ता, परन्तु विद्वान् और परिपक्व सन्तान अपना विधान आप बनाने में स्वतन्त्र होती है। यही प्रथा पशु-पक्षियों की है। मधुमक्खी को छत्ता बनाने या बया को घोंसला बनाने के लिए किसी इंजीनियरिंग कॉलेज की आवश्यकता नहीं पड़ती, परन्तु मनुष्य का बच्चा तो मुंह धोने का नियम भी सीखता है। अतः स्पष्ट है कि मानवजाति के लिए एक आचार शास्त्र चाहिए जो परम्परा से चालू रहे। इसी का नाम व्रत है।

अब यज्ञोपवीत दिया जाता है तो एक मन्त्र पढ़ते हैं-

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छुकेयं तन्मे राध्यताम्।

इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि।। -यजुर्वेद १/५

अर्थात् मैं एक व्रत करता हूँ। परमात्मा इस व्रत के पालन में मेरी सहायता करें वह व्रत क्या है? अनृतात् सत्यमुपैमि। असत्य का त्याग और सत्य का ग्रहण।

वेदों के पुनरुद्धारक महर्षि दयानन्द सरस्वती ने इसीलिए इस व्रत (सत्य) को विशेष स्थान दिया है। इस नियम पर प्रत्येक मनुष्य के विकास का आधार है। महात्मा गाँधी का समस्त जीवन सत्य की खोज और उसके पालन में व्यतीत हुआ। जिसने सत्य की खोज नहीं की वह सत्य का पालन क्या करेगा? जो लोग 'श्रद्धा' का अर्थ लेते हैं- 'सत्य की खोज से संकोच और प्रचलित प्रथाओं या गुरुजनों पर अन्धविश्वास', वे श्रद्धा शब्द की व्युत्पत्ति तथा अर्थों से अनभिज्ञ हैं। 'श्रद्धा' दो शब्दों से बनता है, 'श्रत्' अर्थात् सत्य और 'धा' अर्थात् धारण करना। अतः श्रद्धा का भी वही अर्थ है जो अनृतात् सत्यमुपैमि का। प्रत्येक बच्चे को यह व्रत लेना पड़ता है और यह आशा की जाती है कि आयुपर्यन्त इसका पालन करे। मानवजाति के कल्याण के लिए यह आवश्यक है और हर गृहस्थ को यह व्रत लेना चाहिए।

परन्तु यह परम्परा तो तभी चल सकती है, जब भावी सन्तान पूर्वजों के व्रत का आदर करे। इसीलिए कहा कि पुत्र को पिता का 'अनुव्रत' होना चाहिए। यह दायभाग में सबसे बड़ी सम्पत्ति है, जो कोई पिता अपने पुत्र के लिए या कोई आचार्य अपने शिष्य के लिए छोड़ सकता है। 'अनुव्रत' का प्रश्न तो तभी उठेगा जब 'व्रत' होगा। माता-पिता के जो आचरण आकस्मिक या स्वाभाविक रूप से इस 'व्रत' के अन्तर्गत नहीं वे अनुपालनीय भी नहीं। इसीलिए गुरु उपदेश देता है कि हमारे जो-जो सुचरित हैं वे ही पालनीय हैं (नो इतराणि) अन्य नहीं। व्यक्तिगत घटनाएँ नहीं अपितु वैदिक संस्कृति ही प्रत्येक माता-पिता को करणीय और प्रत्येक पुत्र या पुत्री को अनुकरणीय है।

अब 'पुत्र' शब्द के अर्थों पर विचार कीजिए। हर बच्चा जो उत्पन्न होता है पुत्र कहलाने के योग्य नहीं। शास्त्र के विधान से उसको 'पुत्र' बनने की योग्यता प्राप्त करनी चाहिए। सन्तान के लिए संस्कृत में अनेक पर्याय हैं जैसे- तुक्, तोकं, तनयः, तोक्म्, तक्म्, शेषः, अप्नः, गयः, जाः, अपत्यं, यहुः, सूनुः, नपात्, प्रजा, बीजम् इति पंचदश अपत्यनामानि (निघण्टु २/२)। परन्तु पुत्र का एक विशेष अर्थ है। यास्काचार्य ने निरुक्त में पुत्र शब्द की यह व्युत्पत्ति दी है 'पुत् + त्र'। पुत् नाम है नरक का। नरक से हो रक्षा करे उसे पुत्र कहते हैं। मनुस्मृति में भी यही कहा है-

पुनाम्नो नरकाद् यस्मात् त्रायते पितरं सुतः। तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयम्भुवा।।

पौत्रदौहित्रयोर्लोकं विशेषो नोपपद्यते। दौहित्रोपि ह्यमुत्रैतं संतारयति पौत्रवत्॥ (मनुस्मृति ९/१३८, १३९)

'पुत्र' अर्थात् नरक से जो तारे वह है पुत्र। पुत्र के अन्तर्गत लड़के और लड़की तो आते ही हैं, इनके लड़के-लड़कियाँ भी आते हैं, क्योंकि वे सब ही नरक से तारने वाले हैं।

यह नरक त्राण क्या है, इस पर विचार करना चाहिए। पौराणिकों ने नरक को एक स्थान विशेष माना है जहाँ पापी लोग जाते हैं और यदि पुत्र मृतकों का श्राद्धतर्पण करता है तो उसके पितृगण नरक से छूटकर स्वर्ग में चले जाते हैं। यह बात वैदिक कर्मफलवाद के सिद्धान्त के सर्वथा विरुद्ध है। फिर प्रश्न है कि पुत्र पिता को नरक से कैसे छुड़ाता है ?

कोई मनुष्य एक जन्म में पूर्ण विकास या परमपद को प्राप्त नहीं हो सकता इसके लिए जन्म-जन्मान्तर का अभ्यास आवश्यक है। यह पुनर्जन्म के द्वारा होता है। जो आज बाप कहलाता है वह कल बेटा होगा। जिसको अगली पीढ़ी कहते हैं वह पिछली पीढ़ी हो जायेगी। और अगली पीढ़ी की शिक्षा-दीक्षा का भार उसी पीढ़ी पर होगा। आज मैं और मेरे समवयस्क पितृश्रेणी में हैं। उनके ऊपर सन्तान की शिक्षा का भार है। कल हम मरकर बच्चे होंगे और जिनको हम पुत्र-पौत्र कहते हैं, वे पितृगण कहलायेंगे और हमारी शिक्षा का भार उन पर होगा। यह पिता-पुत्र का सम्बन्ध अनादि काल से प्रवाह चक्र के समान चला आता है। यदि हमारी सन्तान ने हमारी सुरक्षित संस्कृति को अपने हाथ में लेकर उसे समुन्नत किया तो वह समुन्नत संस्कृति हमारे दूसरे जन्म में हमारी सहायक होगी और इस प्रकार हमारे वर्तमान पुत्र अपने सुकर्मों के द्वारा हमारे कर्म और विकास के लिए उत्कृष्ट क्षेत्र छोड़ सकेंगे। इसी का नाम है नरक त्राण या पुत्र नामक नरक से रक्षा। प्रत्येक अतीत पीढ़ी के जीवात्मा अगले जन्म में भावी बन जाते हैं और उनको अपनी पिछली पीढ़ी वालों के निर्मित क्षेत्र की अपेक्षा और आकांक्षा होती है।

एक दृष्टान्त लीजिए। आज हमारे पुत्रों ने अपनी योग्यता से देश-देशान्तरों में वैदिक भाषा, वैदिक परम्पराओं और वैदिक संस्कृति का प्रचार कर दिया। जब हमने दूसरा जन्म लिया तो ये परम्पराएँ उस जन्म में हमारी सहायक होंगी। यदि हमारी सन्तान की भूलों से वैदिक परम्पराएँ नष्ट हो गई तो हम ऐसी दुनिया में जन्म लेंगे जो अवैदिक और प्रतिकूल होंगी, अतः हमें बड़ी कठिनाई होगी। यही नरक है।

कल्पना कीजिए कि आप एक बाग लगाते हैं और उसका निरीक्षण अपने लड़कों पर छोड़कर चार वर्ष के लिए विदेश चले जाते हैं। अब यदि आपके लड़के योग्य हैं तो बाग को समुन्नत करेंगे और जब आप विदेश से लौटेंगे तो बाग अच्छा मिलेगा। परन्तु यदि सन्तान ने प्रमाद किया और बाग उजड़ गया तो आपको नये सिरे से काम करना पड़ेगा। यही स्वर्ग और नरक है और यह आपके विकास में साधक या बाधक है। महर्षि स्वामी दयानन्द से पूर्व की सैकड़ों पीढ़ियों के लोग यदि यह समझते कि अपने पूर्वजों के नरक त्राण की दृष्टि से वैदिक धर्म का लोप न होने दें, तो महर्षि दयानन्द को फिर से वैदिक धर्म का जीर्णोद्धार करने का कष्ट न उठाना पड़ता और उनका जीवन आरम्भिक कक्षा की शिक्षा देने के स्थान में उच्च कक्षा की शिक्षा देने में काम आता।

कल्पना कीजिए कि मैं मरकर अरब में पुनर्जन्म लूँ तो वहाँ अवैदिक इस्लाम का प्रचार पाऊँगा और अपने पूर्वजन्म के संस्कारों के प्राबल्य के आधार पर यदि वैदिक जीवन व्यतीत करना चाहूँ तो कितनी कठिनाई

होगी। परन्तु यदि इस पीढ़ी में वहाँ वैदिकधर्म का प्रचार हो जाए तो मुझे कितनी सुविधा हो! वैदिक संस्कृति में पले हुए वैदिकव्रतों के व्रती पिताओं के पुत्रों का कर्तव्य है कि अपने पितृगण के भावी क्षेत्र को अनुकूल बनाने के लिए पिताओं के अनुव्रत हों। इस प्रकार वे अपने और अपने पीछे आने वालों के लिए क्षेत्र तैयार कर सकेंगे। व्यक्ति तो मर चुकते हैं परन्तु संस्कृतियाँ बनी रहती हैं। कुलों की सन्तति, राज्यों की सन्तति और धन-सम्पत्ति को स्थिर या चिरस्थायी बनाने के हेतु हम सन्तान चाहते हैं। संस्कृति की सन्तति मुख्य चीज है। वही साध्य है और सन्तान उस सन्तति का साधन है।

अब कहा कि पुत्र को 'मात्रा संमना : ' माता के साथ समान मन वाला होना चाहिए। माता प्रेम की निधि है। माता से अधिक प्रेम तो कोई करता ही नहीं और प्रेम एक प्रकार का गोंद है जिससे अनैक्य में ऐक्य उत्पन्न होता है, स्वार्थ में परमार्थ आता है, दानवता में मानवता का संचार होता है। अतः अपने मानसिक विकास का सबसे बड़ा साधन है माता के स्नेह को स्मरण रखना। माता का कृतज्ञ होना ही मनुष्य के आत्म-निर्माण की पहली सीढ़ी है।

मन्त्र के पिछले चरण में पत्नी के लिए उपदेश है कि पति के साथ मीठी और शान्तिप्रद वाणी बोले। पुरुष स्वभाव से कुछ कर्कश होता है और स्त्री का स्वभाव कोमल होता है। पुरुष दांत है तो स्त्री जीभ है। जीभ और दांत का सामीप्य है। कर्कशता और कोमलता का सम्मिलन है। समस्त शरीर में जहां नर्म पेशियाँ हैं वहां कठोर अस्थियाँ भी हैं। यदि हड्डियाँ ही होती, मांस नहीं होता तो शरीर का व्यापार कैसे चलता? शरीर शरीर न होता, पत्थर की चट्टान होता और यदि पेशियाँ ही होती तो यह ढाँचा ही न होता, हम चल-फिर न पाते। अतः कठोर वस्तुओं को अपना धर्म पालने के लिए कोमल वस्तुओं के सामीप्य, सान्निध्य और साहाय्य की आवश्यकता होती है। मशीन को चालू रखने के लिए तेल की आवश्यकता होती है। गृहस्थ के जटिल जीवन में पत्नी अपनी मधुरवाणी से कर्कशता को कोमल बनाए रखती है। जब पति बाहर के व्यापार से थका-मांदा झुंझलाया हुआ सायंकाल को घर लौटता है तो पत्नी अपनी मधुर स्वागतकारिणी वाणी से भारी थकावट दूर कर देती है। पत्नी वस्तुतः पत्नी अर्थात् पति की रक्षिका बन जाती है। यह आनन्द केवल वैवाहिक जीवन में ही प्राप्त हो सकता है, अन्यत्र नहीं। इसीलिए पत्नी को 'जाया' कहा। न केवल इसलिए कि उससे पुत्र उत्पन्न होगा जो उसके कुल और नाम को स्थिर रखेगा, यह तो गृहस्थ का एक स्थूल पक्ष है। परन्तु इसलिए भी कि पत्नी की मीठी बोली पति के लिए प्रतिदिन नये जीवन का संचार करती है। विवाह संस्कार के समय इसी बात को दृष्टि में रखकर ऋग्वेद के इन मन्त्रों का विनियोग रखा गया है-

मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः॥

मधु नक्तमुतोषसो मधुमत् पार्थिवं रजः। मधु द्यौरस्तु नः पिता॥

मधुमान् नो वनस्पतिर्मधुमाँ अस्तु सूर्यः। माध्वीर्गावो भवन्तु नः॥ (ऋग्वेद १/९०/६, ७, ८)

[स्त्रोत- वैदिक सार्वदेशिक : सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, नई दिल्ली का साप्ताहिक मुख-पत्र का २२-२८ अक्टूबर २०२० का अंक ; )

(प्रस्तुति- प्रियांशु सेठ)